



# International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(6): 163-168

© 2022 IJSR

[www.anantaajournal.com](http://www.anantaajournal.com)

Received: 18-09-2022

Accepted: 23-10-2022

डॉ. आशुतोष पारीक

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,  
सम्राट् पृथ्वीराज चौहान राजकीय  
महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान,  
भारत

## कर्म—सिद्धान्त की सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वजनीन अभिव्यक्ति : श्रीमद्भगवद्गीता और कुरान के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. आशुतोष पारीक

DOI: <https://doi.org/10.22271/23947519.2022.v8.i6c.1929>

सारांश

कर्मसिद्धान्त वैश्विक जीवन का आधार है। उन्नति और विकास का स्रोत है। कर्महीनता दुःख का कारण तो कर्मशीलता सुख का द्वार है। यही मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति एवं प्राणिमात्र में सुष्टि, स्थिति और प्रलयादि का केन्द्र है। कर्म को समझने के प्रयास प्रायः प्रत्येक संस्कृति और शास्त्रों के अप्रतिम लक्ष्य रहे हैं। इसी कारण कर्म को विविध स्वरूपों में परिभाषित करने के प्रयास आदिकाल से होते रहे। इन प्रयासों में वेदादि साहित्य के साथ वाल्मीकिप्रणीत रामायण, वेदव्यासप्रणीत महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादात्मक श्रीमद्भगवद्गीता आदि में भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग ने कर्मसिद्धान्तों के सार्वभौमिक, सार्वकालिक एवं सार्वजनीन स्वरूप को प्रतिपादित किया है। वहीं दूसरी ओर इस्लाम धर्म के पवित्र ग्रन्थ कुरान में विविध प्रसंगों के माध्यम से कर्म का उपदेश दिया गया है। इस शोधलेख के माध्यम से इन दोनों ही महनीय पुस्तकों में वर्णित कर्मसिद्धान्तों की विश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया है।

**कूटशब्द :** कर्म, आर्षसाहित्य, गीता, कुरान, अकर्मण्यता, ऐहिक, दैविक, आध्यात्मिक, कर्मफल, सुख-दुःख, यज्ञ, जिहाद, सत्कर्म, नेकी, संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण, पुरुषार्थ।

प्रस्तावना

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा त संगोऽस्त्वकर्मणि।।<sup>1</sup>

कर्म की महत्ता को प्रत्येक प्राणी के जीवन का आवश्यक अंग स्वीकार करते हुए महर्षि वेदव्यास कहते हैं कि कर्म पर ही तेरा अधिकार है, फल पर कभी नहीं। अतः कर्म को फल का हेतु कदापि न बना क्योंकि यदि ऐसा हुआ तो अकर्मण्यता की स्थिति आ जायेगी।

कर्म का यह सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्तों की ही परिणति है जिसके अन्तर्गत यजुर्वेद में यह उद्घोषणा की गई है—

ओ३म् कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे।।<sup>2</sup>

अर्थात् कर्म करता हुआ ही मनुष्य सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। हे मनुष्य! इस प्रकार कर्मानुष्ठान द्वारा अन्यों का नेतृत्व करने वाले तुझमें कर्मों की आसक्ति उत्पन्न नहीं होगी।

कर्म ही जीवन, उन्नति, प्रगति और विकास है। जहाँ कर्महीनता, अकर्मण्यता है; वहाँ दुःख, क्लेश, अभाव और विपत्तियाँ हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में महर्षि व्यास स्पष्टतया कहते हैं कि जीवित रहने के लिए और जीवन—निर्वाह के लिए कर्म करना अनिवार्य है। जो कर्म नहीं करेगा, उसका जीवन भी कठिन हो जाएगा—

“नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।<sup>3</sup>

Corresponding Author:

डॉ. आशुतोष पारीक

सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,  
सम्राट् पृथ्वीराज चौहान राजकीय  
महाविद्यालय, अजमेर, राजस्थान,  
भारत

कर्म का यह सिद्धान्त आर्षसंस्कृति का आधार है और इसी के माध्यम से ऐहिक-दैविक-आध्यात्मिक लक्ष्यप्राप्ति का ताना-बाना बुना गया भारतीय संस्कृति में कर्म की सापेक्षता को सदैव स्वीकारा गया है तथा प्राप्त होने वाले जीवन और उसके सुख-दुःख का इसी को कारण माना है। आर्षसंस्कृति एक मानवीय संस्कृति है जो सम्पूर्ण विश्व में विविध रूपों में विस्तार को प्राप्त हुई। अतः विविध संस्कृतियों में इन आर्ष सिद्धान्तों का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में स्वतः दिखाई देता है।

इस्लाम की पवित्रतम पुस्तक 'कुरआन', जिसे अल्लाह के फरिश्ते जिब्रिल ने हजरत मुहम्मद साहब को लगभग 1400 वर्ष पूर्व सुनाया था। ईश्वर के इन संदेशों का प्रारम्भ आदम से हुआ और सर्वप्रथम नबी (पैगम्बर) था तथा ईश्वर द्वारा प्राप्त संदेशों के सबसे आखिरी संदेश ही कुरआन में लिखे गए हैं और यदि कुरआन की शिक्षाओं को चिन्तन किया जाता है तो हम पाएँगे कि कुरआन में भी श्रीमद्भगवद्गीता के कर्मसिद्धान्त के अनुरूप अनेकानेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

कुरआन में परमेश्वर की ओर लौटने को ही हर एक प्राणी का लक्ष्य बताते हुए लिखा है— "हम अल्लाह ही के लिए हैं और उसी की आरंभ हमें लौटकर जाना है।"<sup>4</sup> स्वकर्म और उससे प्राप्त होने वाले फल के एकमात्र हम ही उत्तरदायी हैं। कुरआन में स्पष्ट रूप से कर्म और फल के विषय में स्वयं के दायित्व को बताया गया है— "कोई उसका साझी नहीं और मुझे इसी का आदेश मिला है और मैं सबसे पहले आज्ञाकारी हूँ। कहां क्या मैं अल्लाह के अतिरिक्त कोई और पालनहार तलाश करूँ जबकि वही हर चीज़ का पालनहार है और जो व्यक्ति भी कोई कमाई करता है, वह उसी पर रहता है और कोई बोझ उठाने वाला दूसरे का बोझ नहीं उठाएगा। फिर तुम्हारे पालनहार की ही ओर तुम्हारी वापसी है। अतः वह तुम्हें बता देगा वह चीज़ जिसमें तुम मतभेद करते हो।"<sup>5</sup>

कर्मों का यथानुरूप फल प्राप्त होता है। अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा। ईश्वर फलों को भुगाने वाला है। अतः कुरआन में लिखा है—"थल और जल में बिगाड़ फैल गया। लोगों के अपने हाथों की कमाई से, ताकि अल्लाह स्वाद चखाए, उनको उनके कुछ कर्मों का, सम्भवतः वे रुक जाएँ।"<sup>6</sup>

कर्मरत प्रत्येक व्यक्ति को अपने निकट ईश्वर के अस्तित्व का बोध होता है। ईश्वर की अवस्थिति के इस बोध का उल्लेख कुरआन में इस प्रकार से है—"और जब मेरे बन्दे (उपासक) तुमसे मेरे सम्बन्ध में पूछें तो मैं निकट हूँ, पुकारने वाले की पुकार का उत्तर देता हूँ, जबकि वह मुझे पुकारता है।"<sup>7</sup>

आचार-विचार के पारम्परिक सिद्धान्तों से कहीं अधिक ऊपर है कर्मसिद्धान्त। यह कर्मसिद्धान्त ही प्रत्येक युग में मानव को सन्मार्ग से भटकने नहीं देता है। ईश्वरीय आदेशों की अवमानना कर हम अनेकदा भूल कर बैठते हैं। ऐसा ही उल्लेख कुरआन में मिलता है। पैगम्बरों को सामान्य जनमानस के सम्मुख अनेकानेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कुरआन में फिरौन के लोगों द्वारा पैगम्बर मूसा व पैगम्बर हारुन के समक्ष ऐसी ही समस्या का वर्णन करते हुए लिखा गया है—"उन्होंने कहा कि क्या तुम हमारे पास इसलिये आए हो कि हमको उस रास्ते से फेर दो, जिस पर हमने अपने बाप-दादा को पाया है और इस देश में तुम दोनों की श्रेष्ठता स्थापित हो जाए पर हम कभी तुम दोनों की बात मानने वाले नहीं हैं।"<sup>8</sup>

यह स्थिति श्रीकृष्ण पर अर्जुन के अविश्वास के समान ही लगती है। कौरव-पाण्डव भी कदाचित् श्रीकृष्ण के विचारों से असहमति व्यक्त करते थे। गीता का सम्पूर्ण उपदेश परमेश्वर के प्रति इसी अनास्था को दूर करने के लिए किया गया था।

एकेश्वरवाद व एक अल्लाह पर विश्वास और शाश्वत जीवन की चेतना जो नैतिक शिक्षा से जुड़ी थी। वह नये मुसलमानों को उनकी आध्यात्मिक, बौद्धिक और सामाजिक मुक्ति के तत्त्वों के रूप में प्रकट हो रही थी। इसी प्रसंग में कुरैश के सरदार द्वारा एक अल्लाह की आस्था प्रकट करने की पुष्टि का उल्लेख किया गया

है—"कहो, वह अल्लाह एक है। अल्लाह निर्लोक है। न उसकी कोई सन्तान है और न वह किसी की सन्तान है और उसके समकक्ष कोई नहीं है।"<sup>9</sup>

कर्म के पूर्ण निष्ठा और लगन ही लक्ष्यप्राप्ति में सफलता प्रदान कराती है। साथ ही प्राणी से यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह उस परमसत्ता को स्वयं में अभिभूत मान उस कार्य को पूर्ण करे। इसी मन्तव्य को स्थापित करते हुए कुरआन में उल्लेख है—"और तुम किसी कार्य के सम्बन्ध में इस तरह न कहो कि मैं इसको कल कर दूँगा। परन्तु यह कि जैसा अल्लाह चाहे और जब तुम भूल जाओ जो अपने पालनहार को याद करो और कहो कि आशा है कि मेरा पालनहार मुझको भलाई का इससे अधिक निकट मार्ग दिखा दे।"<sup>10</sup>

कुरआन के उक्त कथन की व्याख्या करते हुए सैयद हामिद मोहसिन अपनी पुस्तक 'मुहम्मद से वफ़ा' में लिखते हैं—"यह सीमाओं के ज्ञान का प्रकटीकरण है, यह किसी व्यक्ति की विनम्रता का अनुभव है। वह यह जानते हुए काम करता है कि जो कुछ वह कर सकता है या कह सकता है उससे परे मात्र अल्लाह ही उनके घटित कराने की क्षमता रखता है। यह किसी प्रकार का दार्शनिक सन्देश नहीं है: अकर्मण्यता का। इसके विपरीत किसी व्यक्ति को कर्म करना बन्द नहीं करना चाहिए।"<sup>11</sup> ऐसे ही विचारों की पुष्टि करते हुए डॉ. कपिलदेव द्विवेदी लिखते हैं—"कर्म की स्थिति सबसे ऊपर है। जहाँ कर्म है, वहाँ गति है, वहाँ जीवन है, वहाँ दुःखों का अभाव है। कर्म और गति का साक्षात् सम्बन्ध है।... जहाँ कर्म है, वहाँ सुख है; जहाँ अकर्मण्यता है, वहाँ दुःख और अभाव है।"<sup>12</sup>

ईश्वर के चिन्तनीय और मननीय परमसत्तास्वरूप को बताने के लिए कुरआन में स्पष्ट कहा गया है—"ताहा, हमने कुरआन तुम पर इसलिए नहीं अवतरित किया कि तुम कष्ट में पड़ जाओ बल्कि ऐसे व्यक्ति के उपदेश के लिए जो डरता हो। यह उसकी ओर से अवतरित किया गया है जिसने पृथ्वी को और ऊँचे आकाशों को पैदा किया है। वह दयालुता वाला है, सिंहासन पर स्थापित है। उसी का है जो कुछ आकाशों में है और जो पृथ्वी पर है और जो इन दोनों के बीच है। और जो कुछ पृथ्वी के नीचे है और तुम चाहे अपनी बात पुकार कर कहो, या चुपके से, वह कहीं हुई बात को जानता है। और इससे अधिक धीमी बात को भी। वह अल्लाह है। उसके अतिरिक्त कोई उपास्य नहीं। सभी अच्छे नाम उसी के हैं।"<sup>13</sup>

सत्कर्म ही सन्मार्ग के प्रदर्शक हैं। इसी शाश्वत शिक्षा को प्रदान करते हुए कुरआन की आयत कहती है—"तुम जिनसे प्रेम करते हो मार्गदर्शन नहीं दे सकते। बल्कि अल्लाह जिसको चाहता है मार्गदर्शन देता है और वही भली प्रकार जानता है जो सन्मार्ग स्वीकार करने वाले हैं।"<sup>14</sup> अशुभ कर्म और कपटाचरण करने वालों के सम्बन्ध में कुरआन में लिखा है—"और लोगों में कुछ ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि हम ईमान लाये (विश्वास किया) अल्लाह पर और आखिरत (परलोक) के दिन पर, और वास्तविकता यह है वह ईमान वाले नहीं हैं। वह अल्लाह को और मोमिनों को धोखा देना चाहते हैं परन्तु वह मात्र अपने आपको धोखा दे रहे हैं और उन्हें इसका बोध नहीं है।"<sup>15</sup> दुराचारियों से बचने की सीख देते हुए कुरआन में कहा गया है—"और जब वह ईमान वालों से मिलते हैं तो कहते हैं कि हम ईमान लाये हैं और जब अपने शैतानों की बैठक में पहुँचते हैं तो कहते हैं कि हम तुम्हारे साथ हैं, हम तो उनसे मात्र हँसी-मज़ाक करते हैं।"<sup>16</sup>

युद्ध को भी कर्मसिद्धान्त में स्थान प्रदान करते हुए धर्म युद्ध की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए लिखा है—"अतः तुम अवज्ञाकारियों की बात न मानो और इसके माध्यम से उनके साथ महा धर्म युद्ध (जिहाद) करो।"<sup>17</sup>

जिहाद के सम्बन्ध में सैयद हामिद मोहसिन लिखते हैं—"कुरआन और हदीस में जिहाद के कई अर्थ बताये गये हैं। शब्द जिहाद का अरबी भाषा में जो मूल है उसका अर्थ प्रयास या संघर्ष है। इसका प्रयोग किसी व्यक्ति द्वारा शिष्ट जीवन व्यतीत करने के लिए,

व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक मूल्यों को अपनाने, व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से इस्लाम का प्रचार करने में सहायता और इस्लामी विश्वास को विकसित करने के लिए व्यक्तिगत रूप से आदर्श बनकर इसका प्रसार करना है। उस सन्दर्भ में मुसलमानों के लिए जिहाद शब्द भलाई के लिए पूर्णतः सकारात्मक धार्मिक लगाव और व्यक्तिगत समर्पण है। इसका प्रयोग अरबी भाषा में सामान्य रूप से "मैं प्रयास करूँगा, मैं हर संभव प्रयास करूँगा।"<sup>18</sup>

अतः जिहाद के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट हो जाती है कि यह मौलिक रूप से 'यज़' शब्द के अर्थ को ही धारण करता है। जैसे 'यज़' समर्पण, त्याग, धर्माचरण और सेवा की अभिव्यक्ति करता है वैसे ही 'जिहाद' भी। विकृतियों के सम्बन्ध में तो यही कहना पर्याप्त होगा कि यह तो दोनों ही स्थानों पर है। जिहाद के सम्बन्ध में सैयद हामिद मोहसिन कुरआन का ही उद्धरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—“जब आप हुनैन के अभियान से वापस हो रहे थे तो पैगम्बर ने घोषणा की थी—हम छोटे जिहाद (प्रयास, प्रतिरोध और सुधार के लिए संघर्ष) से वापस हो रहे हैं और बृहत्तर जिहाद की ओर जा रहे हैं। आपके एक साथी ने पूछा—अल्लाह के पैगम्बर बृहत्तर जिहाद क्या है? फिर आपने उत्तर दिया—यह अपनी आत्मा (अहंकार) से युद्ध करना है। सम्पूर्ण मानवता की तरह मुसलमानों के लिए भी यह आन्तरिक संघर्ष सर्वाधिक कठिन, सर्वाधिक उत्कृष्ट था और जिसमें सर्वाधिक समझ और क्षमाशीलता की आवश्यकता थी और वास्तव में अपने प्रति गम्भीरता थी।”<sup>19</sup>

**कर्मभेद:** कर्म की विविधता प्रत्येक प्राणी के मन में विविध संकल्प-विकल्पों को उत्पन्न करने वाली होती है। अतः कर्म के विविध भेदों की अभिव्यंजना की गई है—

— पूर्वापर आधार पर कर्म के तीन भेद —

1. संचित, 2. प्रारब्ध और 3. क्रियमाण।

— स्वभाव या फल के आधार पर कर्म के दो भेद —

1. शुभ कर्म/सुकर्म/ पुण्य/ अच्छे कर्म  
2. अशुभ कर्म/ कुकर्म/ पाप/ बुरे कर्म

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने इन्हें पुण्य और अपुण्य कहा है—  
“पुण्यापुण्यहेतुत्वात्”<sup>20</sup>

— काल की दृष्टि से कर्म के चार भेद —

1. कृत एवं संचित, 2. अकृत,  
3. क्रियमाण, 4. करिष्यमाण।

**इन सभी कर्मों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है**

**कृत कर्म:** ऐसे कर्म जो किये जा चुके हैं किन्तु जिनका फल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, वे ही कृत कर्म कहलाते हैं।

**संचित कर्म:** कृत कर्म का ही एक भेद 'संचित कर्म' है। ये संचित कर्म सुरक्षित भंडार की तरह संचित या सुरक्षित रहते हैं। ये संकटादि के समय प्राणरक्षा आदि के रूप में दिखाई देते हैं।

**प्रारब्ध कर्म:** ऐसे कृत कर्म जिनका फल मिल चुका है या मिलना प्रारम्भ हो गया है, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

**अकृत कर्म:** वे कर्म जो स्थूल रूप में या शरीर से नहीं किए हैं अपितु मन या विचार से किये गये हैं।

**क्रियमाण कर्म:** वे कर्म जो हम प्रतिदिन कर रहे हैं। इनका फल तुरन्त या भविष्य में मिलेगा।

**करिष्यमाण कर्म:** जिन्हें हम भविष्य में करेंगे या शीघ्र करने जा रहे हैं, वे कर्म 'करिष्यमाण कर्म' कहलाते हैं।

**शुभ कर्म:** कर्म की प्रकृति एवं उसके फल के आधार जो शुभ, अच्छा व पुण्यप्राप्ति का साधनरूप हो, वह शुभ कर्म कहलाता है। कुकर्म या दुष्कर्म करने वाले की सदा दुर्गति ही होती है। अतएव अथर्ववेद में कहा गया है —

“अधमस्तु अघकृते, शपथः शपथीयते।”<sup>21</sup>

अर्थात् पापकर्म करने वाले को पाप लगता है और कुवचन या गाली देने वाले को गाली देने के दंड का भुगतान करना पड़ता है। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि कुकर्म करने वाले, आलसी और प्रमादी का पतन होता है। कोई देवता या सज्जन पुरुष उसका साथ नहीं देता—

“न देवासः कवत्नवे।”<sup>22</sup>

कर्म की शुचिता अत्यावश्यक है। इस सन्दर्भ में कुरआन में लिखा गया है—“जो व्यक्ति किसी की हत्या करे बिना इसके कि उसने किसी की हत्या की हो अथवा पृथ्वी पर उपद्रव किया हो तो जैसे कि उसने सारी मानवता की हत्या कर डाली और जिसने एक जान को बचाया, तो उसने सारी मानवता को बचा लिया।”<sup>23</sup>

**अशुभ कर्म:** जो कर्म अशुभ, बुरा व पाप का साधनरूप हो, वह अशुभ कर्म कहलाता है। वेदों में अशुभ कर्मों की घोर निन्दा की गई है। ऋग्वेद में अकर्मण्य, कामचोर और निकम्मे को ही दस्यु, चोर, दास या अधम कहकर निन्दा की गई है। साथ ही कहा है कि जो निन्दित/निषिद्ध कर्म या कुकर्म करता है, वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं है। राजा का कर्तव्य है कि ऐसे असामाजिक तत्त्व को मृत्युदण्ड दे—

“अकर्मा दस्युः।”<sup>24</sup>

स्वकर्म में निरत व्यक्ति को विनम्र और संयमित होना चाहिए। अहंकार से रहित होकर कर्म में लगे रहने का संदेश देते हुए कुरआन में कहा गया है—“और पृथ्वी पर अकड़कर न चलो। तुम भूमि को फाड़ नहीं सकते और न तुम पहाड़ों की ऊँचाई को पहुँच सकते हो।”<sup>25</sup> इसी सन्दर्भ में और लिखते हैं—“और लोगों से अपना मुँह न फेर। और धरती पर अकड़ कर न चल। निस्सन्देह अल्लाह किसी अकड़ने वाले और अभिमान करने वाले को पसन्द नहीं करता।”<sup>26</sup>

संचित, प्रारब्ध और करिष्यमाण कर्मों से अधिक विचारणीय और मननीय पक्ष 'क्रियमाण कर्म' के सन्दर्भ में है। कार्य-कारण के सिद्धान्तानुसार तो क्रियमाण कर्म स्वतंत्र नहीं अपितु अनन्त काल से चली आ रही लड़ी की कड़ी है और ऐसा मानने वाले प्रायः भाग्यवादी (Fatalists) हो जाते हैं। वहीं दूसरी ओर क्रियमाण कर्म को कार्य-कारण सिद्धान्त से पृथक् बताकर स्वतंत्र मानने वालों का तर्क है कि हम जो चाहें कर सकते हैं, किसी पिछले बंधन से बंधे नहीं हैं। यह सिद्धान्त पुरुषार्थवादियों (Willists) का है। वहीं इस विषय में एक तृतीय मत भी है। इसे बताते हुए डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं— “कार्यकारण का नियम भौतिक जगत् का नियम है और कर्म का नियम आध्यात्मिक जगत् का नियम है। यह उस जगत् का नियम है, जहाँ 'चेतना' नामक पंचतत्त्वों से भिन्न सत्ता काम कर रही है।.... भौतिक जगत् स्वतंत्र नहीं है, परमात्मा को मानो तो भी, और न मानो तो भी, भौतिक जगत् कार्यकारण के महान् नियम के अधीन है, उससे इधर-उधर नहीं हो सकता। आत्मतत्त्व के साथ यह बात नहीं है। आत्मतत्त्व भौतिक पदार्थों से भिन्न है। वर्तमान विज्ञान इसे आत्मतत्त्व न कहकर 'चेतना' (Consciousness) कहता है।”<sup>27</sup>

**कर्मफल:** जो भी कर्म किया जाता है उसका कोई न कोई फल तो निश्चित रूप से होता है। कुछ कर्म व्यक्ति अपनी इच्छा से अकेला करता है तो कुछ दूसरों की सहायता से। मनुस्मृतिकार ने मांसभक्षण का उदाहरण देते हुए सामूहिक कार्य में अनेकों की सहभागिता का वर्णन प्रस्तुत किया है। मनुस्मृतिकार के अनुसार—

“अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।  
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥<sup>28</sup>

अर्थात् सलाह देने वाला, काटने वाला, खरीदने-बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला अर्थात् ये सभी अपने-अपने योगदान के अनुरूप फल के भागी होते हैं। ऐसे सामूहिक कार्यों में सहयोगी उसके फल में हिस्सेदार होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार हम जिन फलों को भोगते हैं वे सदैव कर्म पर ही निर्भर होते हैं।<sup>29</sup>

कर्म का फल सदा कर्म के सूक्ष्म-स्थूल रूप के अनुरूप ही होता है। अत एव मनुस्मृतिकार ने बारहवें अध्याय में बड़े विस्तार से बताया है कि मन, इन्द्रिय, शरीर के अलग-अलग रूप से या इनमें से दो या इन तीनों के मेल से आत्मा जैसा कर्म करता है उसका फल तदनु रूप किसी न किसी जन्मान्तर में अवश्य ही प्राप्त होता है।<sup>30</sup>

वैदिक चिन्तन में कर्म और फल के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्य भद्रसेन वेद लिखते हैं—“कर्म और फल में पूर्वापर सम्बन्ध है। फल शब्द अपने साथ सम्पृक्त फलदाता, भोक्ता और वर्तमान-भूत-प्रारब्ध आदि भावों को जहाँ उजागर करता है, वहाँ विशेष रूप से फल शब्द खेती, बागवानी की प्रक्रिया से प्राप्य रूप को भी स्मरण कराता है जो कि भूमि की सज्जा, बीज, उसका वपन, सिंचन, सम्भाल, पुष्प-फल, आगमन और परिपाक तक का प्रकरण सामने ला देता है।”<sup>31</sup>

मनुस्मृति के अनुसार सांसारिक, आध्यात्मिक आदि सभी कर्म संकल्प एवं इच्छा से होते हैं, अर्थात् करने से पहले संकल्प, विचार और इच्छा उभरती है—

“संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ॥  
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ॥  
यद् यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥”<sup>32</sup>

कार्य-कारण के भौतिक सिद्धान्त का आध्यात्मिक सन्दर्भ ही ‘कर्म का सिद्धान्त’ है। भौतिक दृष्टि से यह सर्वसम्मत व प्रमाणित, अटल नियम है। कारण के होने पर कार्य की स्थिति व कार्य के होने पर उसमें निहित कारणों की अवस्थिति ही ‘कार्यकारणसिद्धान्त’ कहलाता है। डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार कार्यकारण के सम्बन्ध में लिखते हैं—“अवश्यम्भाविता कार्यकारण के नियम की आत्मा है। कारण का कार्य अवश्यम्भावी है, उसे टाला नहीं जा सकता।... अवश्यम्भाविता के साथ-साथ कार्यकारण का नियम एक चक्र में चलता है। कारण-कार्य को उत्पन्न करता है, वह कार्य फिर कारण बन जाता है, अपने से अगले कार्य को उत्पन्न कर देता है...।”<sup>33</sup>

व्यक्ति का स्वभाव, प्रकृति आदि उसको किसी न किसी कर्म में लगाए ही रखते हैं। न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में कर्मों की विविधता को परिलक्षित करते हुए लिखा गया है कि संकल्प-विकल्परूप विचार, ईर्ष्या, द्वेष आदि मन से और सत्य-असत्य भाषण, कठोर वचन, चुगली आदि वाणी जैसी इन्द्रिय से तथा मार-पीट, चोरी आदि कर्म हाथ जैसी कर्मेन्द्रिय (शरीर) से किए जाते हैं।<sup>34</sup>

वर्तमान विज्ञान ‘कर्म के सिद्धान्त’ को नहीं मानता क्योंकि इसे मानने पर पूर्वजन्म, पुनर्जन्मादि को भी स्वीकार करना पड़ता है किन्तु इस सन्दर्भ में इतना ही तर्क पर्याप्त है कि जो विज्ञान अभाव से भाव का उत्पन्न होना और भाव से अभाव में चला जाना नहीं मानता, वह चेतना के इस जन्म में एकाएक अकारण उत्पन्न होने

और एकाएक समाप्त हो जाने को कैसे मान सकता है? वैदिक संस्कृति में ‘आत्मा’ कर्ता है, कर्म नहीं; भोक्ता है, भोग्य नहीं; स्वतन्त्र है, परतन्त्र नहीं। ‘कर्म सिद्धान्त’ को समझने की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं—“भाग्य और पुरुषार्थ, आत्मतत्त्व का कर्मों के बन्धन के साथ बंधे होना तथा स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकना— इन दोनों बातों की संगति समझने के लिये ‘कर्म’ को कुछ और गहराई से समझने की जरूरत है।”<sup>35</sup>

हम सब यह अनुभव करते हैं कि ये बन्धन स्वाभाविक बन्धन नहीं हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बन्धनों में बंधे रहना नहीं, कार्यकारण में उलझे रहना नहीं, अपितु इस उलझन से निकल जाना ही मनुष्य स्वभाव है। अतः हमारे क्रियमाण कर्म पिछले कर्मों का फल भी हो सकते हैं। कार्यकारण की शृंखला में एक कड़ी भी हो सकते हैं और क्योंकि आत्मतत्त्व की नींव ही स्वतंत्रता पर खड़ी है, इसलिये ये क्रियमाण कर्म आत्मतत्त्व के इस जन्म के सर्वथा स्वतंत्र कर्म भी हो सकते हैं। इन्हें पूर्वजन्मों का फल अर्थात् दैव (Fate) या इस जन्म के स्वतंत्र कर्म = पुरुषार्थ (Freewill) मानने से कार्य कारण के नियम कोई त्रुटि नहीं होती।

वैदिक चिन्तन में कर्म और फल के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए आचार्य भद्रसेन वेद लिखते हैं—“कर्म और फल में पूर्वापर सम्बन्ध है। फल शब्द अपने साथ सम्पृक्त फलदाता, भोक्ता और वर्तमान-भूत-प्रारब्ध आदि भावों को जहाँ उजागर करता है, वहाँ विशेष रूप से फल शब्द खेती, बागवानी की प्रक्रिया से प्राप्य रूप को भी स्मरण कराता है जो कि भूमि की सज्जा, बीज, उसका वपन, सिंचन, सम्भाल, पुष्प-फल, आगमन और परिपाक तक का प्रकरण सामने ला देता है।”<sup>36</sup> और यही कारण है कि हमारी भाषाओं में कृषिप्रक्रिया के आधार पर अनेक कथन, लोकोक्तियाँ, मुहावरे मिलते हैं। यथा—जैसा बोओगे वैसा काटोगे।<sup>37</sup>

कर्म रूपी मूल अर्थात् कारण के होने पर ही जाति, आयु और भोगरूपी फल होते हैं। यहाँ जाति से तात्पर्य विविध योनियों के शरीर से है, क्योंकि वैशेषिक दर्शन में सदृशता, समानतामूलक लक्षण शरीर में ही घटता है। न्यायदर्शन के अनुसार भी जाति का लक्षण शरीर पर ही चरितार्थ होता है। अतः न्यायदर्शन में कहा गया है— “समानप्रसवात्मिका जातिः ॥”<sup>38</sup> अतः हम जो सुख, प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, वह पुण्य कर्मों का फल होता है और दुःख या अप्रसन्नता पाप=अशुभ कर्मों का परिणाम होती है।<sup>39</sup> योगदर्शन में कर्मफल को दो भागों में बाँटा गया है—

“कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः”<sup>40</sup>

1. **दृष्टजन्मवेदनीयः** जिन कर्मों का फल हम इस जन्म में भोग चुके हैं, भोग रहे हैं या भोगेंगे; वे ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्मफल कहलाते हैं। अधिकांश कर्मफल दृष्टजन्मवेदनीय होते हैं अर्थात् इन कर्मों का फल हम इसी जन्म में भोग लेते हैं।
2. **अदृष्टजन्मवेदनीयः** अदृष्टजन्मवेदनीय वे कर्मफल हैं जिन्हें हम इस जन्म में नहीं, अपितु आगामी जन्मों में भोगेंगे। योगदर्शन में इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है—“सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥”<sup>41</sup> अर्थात् जो कर्मफल शेष रहते हैं वे आगामी अन्य जन्मों में भोगने पड़ते हैं।

काल की दृष्टि से कर्मफल को तीन भागों में बाँटा गया है— 1. सद्यःफलप्रद, 2. विलम्बित, 3. अन्यजन्मवेदनीय। कर्मफल के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

“नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।  
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥”<sup>42</sup>

अर्थात् मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका वह कर्म या पुरुषार्थ कभी नष्ट नहीं होता है। उसके कर्मफल में कोई विघ्न नहीं आता

है। यदि वह अच्छे कर्म करता है तो उसका अच्छा फल मिलेगा। उसका थोड़ा सा भी पवित्र और उदारता का कार्य बड़े संकटों से उसे बचाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में सत्कर्म करने वाले की सदा उन्नति होने की बात कही गई है। महर्षि व्यास कहते हैं कि उसका जीवन सदा सुखमय होता है, उसकी कदापि दुर्गति नहीं होती। वे उत्तम कुलों में जन्म लेते हैं और सदा उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं।

“पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।  
नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥  
प्राप्यपुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।  
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥  
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।  
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥<sup>43</sup>

अनेक व्यक्तियों को कर्म करने पर भी उसका फल नहीं मिलता, अतः इस सन्दर्भ में ईश्वर की कृपा, इच्छा ही फल का एकमात्र कारण है। तथापि एकमात्र ईश्वर ही फल का कारण नहीं, क्योंकि वह फलप्राप्ति व्यक्ति के कर्मों के बिना नहीं होती। यदि ईश्वर ही एकमात्र कारण होता, तो वह वरदान, इच्छा व्यक्ति के कर्मों के बिना भी हो जाती। कर्म करने पर ही ईश्वर कृपा करता है, अन्यथा नहीं। ऐसा मानने पर ही बिना किसी प्राप्ति तथा करने पर भी अप्राप्ति रूपी पक्षपात का दोष नहीं होता। कर्मफल के सन्दर्भ में ऋग्वेद का कथन है कि सत्कर्म करने वालों के शुभ कर्म समाज की उन्नति में सहायक होते हैं और शान्ति की स्थापना में उपयोगी सिद्ध होते हैं—

“शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु ॥”<sup>44</sup>

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कर्मफलव्यवस्था इसीलिए अटल, अटूट है क्योंकि यह सारी व्यवस्था ईश्वर के द्वारा ही पूरी तरह से संचालित है। ईश्वर—सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और न्यायादि गुणयुक्त है। ईश्वर के अन्य कार्यसंसार रचना, पालना आदि जिस प्रकार पूर्णतः नियमबद्ध हैं, ठीक इसी प्रकार ईश्वर की कर्मफलव्यवस्था भी सर्वथा नियमबद्ध, व्यवस्थित, अटल और अटूट है। अत एव महर्षि दयानन्द लिखते हैं— “जो सर्वदा सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है वह पुरुष सर्वत्र, सर्वदा परमेश्वर को अपने को पृथक् न जानकर, कुकर्म करना तो कहाँ रहा किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है, जो मैं मन, वचन और कर्म से भी कुछ बुरा करूँगा तो इस अन्तर्यामी के न्याय से बिना दण्ड पाये कदापि न बचूँगा ॥”<sup>45</sup>

कुरआन भी इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् अल्लाह की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वप्रियता का वर्णन करते हुए लिखा गया है—“क्या तुम नहीं देखते कि अल्लाह ही के आगे सजदा (दण्डवत्) करते हैं जो आसमानों में है और जो धरती में है और सूरज, चाँद, तारे और पहाड़ और सूरज और पशु और बहुत से मनुष्य। और बहुत से ऐसे हैं जिन पर यातना सिद्ध हो चुकी है और जिसको अल्लाह अपमानित कर दे तो उसको कोई सम्मान प्रदान करने वाला नहीं। निस्सन्देह अल्लाह करता है जो वह चाहता है ॥”<sup>46</sup>  
अतः कर्मसिद्धान्त के महत्त्व को समझते हुए ही मन, वचन और कर्म से समान होते हुए श्रेष्ठ समाज की संरचना में हमारा योगदान हो सकता है—

समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः।  
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥<sup>47</sup>

## सन्दर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता – महर्षि वेदव्यास 3.8

2. यजुर्वेद 40.2
3. श्रीमद्भगवद्गीता – महर्षि वेदव्यास 3.8
4. कुरआन 2:156
5. कुरआन 6:162–163
6. कुरआन 30:41
7. कुरआन 2:186
8. कुरआन 10:78
9. कुरआन 1:12
10. कुरआन 18:23–24
11. मुहम्मद से वफ़ा – सैयद हामिद मोहसिन पृ.सं. 46
12. वैदिक दर्शन – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी पृ.सं. 97
13. कुरआन 20:1–8
14. कुरआन 28:56
15. कुरआन 2:8–9
16. कुरआन 2:14
17. कुरआन 25:52
18. मुहम्मद से वफ़ा – सैयद हामिद मोहसिन पृ.सं. 99
19. मुहम्मद से वफ़ा – सैयद हामिद मोहसिन पृ.सं. 100
20. योगदर्शन – महर्षि पतंजलि 2.14
21. अथर्ववेद 10.1.5
22. ऋग्वेद 7.32.9
23. कुरआन 5:32
24. ऋग्वेद 10.22.08
25. कुरआन 17:37
26. कुरआन 31:18
27. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व – डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ. सं. 74
28. मनुस्मृति – महर्षि मनु 5.15
29. “क्षिप्रं हि मानुषे लोके, सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥  
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥  
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।  
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वं पूर्वतरं कृतम् ॥  
श्रीमद्भगवद्गीता—महर्षि वेदव्यास 4.12, 3.20, 4.15
30. “पद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टं चिन्तनम्।  
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्ममानसम् ॥  
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।  
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥  
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।  
परदारोपसेवा च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥  
मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।  
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥  
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।  
वाचिकैः पक्षिगृतां मानसैरन्त्यजातिजाम् ॥ मनुस्मृति – महर्षि मनु 12.5–9
31. वैदिक चिन्तन – सं. डॉ. रघुवीर वेदालंकार, पृ. सं. 211
32. मनुस्मृति – आचार्य मनु 2.3–4
33. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व – डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ. सं. 63
34. “मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः प्रतिकूलेषु द्वेषः।  
रागद्वेषाधिकाराच्चासत्येष्वर्थाभायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति,  
वाचाऽनृतपरुषसूचनासम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिकां चेति। सेयं पापात्मिकाप्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति। सेयं धर्माय ॥”  
न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य
35. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व – डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ. सं. 71
36. वैदिक चिन्तन – सं. डॉ. रघुवीर वेदालंकार, पृ. सं. 211

37. "यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।  
तादृशो हति तस्मिन् बीजं स्वैर्व्यजितं गुणैः ॥  
अन्यदुप्तं जाप्तमन्यदितेन्नोपपद्यते ।  
उप्यते यद्धि यद् बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ मनुस्मृति – महर्षि  
मनु 9.36,40
38. न्यायदर्शन – महर्षि गौतम 2.2.68
39. "ते ह्याह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ योगदर्शन–  
महर्षि पतंजलि 2.14
40. योगदर्शन – महर्षि पतंजलि 2.12
41. योगदर्शन – महर्षि पतंजलि 2.13
42. श्रीमद्भगवद्गीता – महर्षि वेदव्यास 2.40
43. श्रीमद्भगवद्गीता – महर्षि वेदव्यास 6.40–42
44. ऋग्वेद 7.35.4
45. सत्यार्थप्रकाश 11 समुल्लास, पृ.सं. 269
46. कुरआन 22:18
47. ऋग्वेद 10.191.4
48. श्रीमद्भगवद्गीता – महर्षि वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर
49. गीता प्रबन्ध – श्री अरविन्द, श्री अरविन्द प्रकाशन, पॉण्डिचेरी
50. पवित्र कुरआन – अनुवादक मौलाना वहीदुद्दीन खॉं, गुडवर्ड  
बुक्स, नई दिल्ली
51. मुहम्मद से वफ़ा – सैयद हामिद मोहसिन, सलाम सेंटर,  
बंगलौर
52. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व – डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार,  
विजयकृष्ण लखनपाल, नई दिल्ली
53. वैदिक दर्शन – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान  
परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही) उत्तर प्रदेश ( 2006 ई.)
54. वैदिक चिन्तन – सम्पादक – डॉ. रघुवीर वेदालंकार, प्राच्य  
विद्या प्रतिष्ठान, दिल्ली (1997 ई.)
55. मनुस्मृति – महर्षि मनु, सं. प्रो. सुरेन्द्र कुमार, आर्ष साहित्य  
प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली ।
56. ऋग्वेद भाष्य – स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय,  
अजमेर ।
57. यजुर्वेद भाषा भाष्य – स्वामी दयानन्द सरस्वती, दयानन्द  
संस्थान, दिल्ली ।
58. सामवेद भाष्य – ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड, वैदिक  
यन्त्रालय, अजमेर ।
59. अथर्ववेद भाष्य – प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, वैदिक यन्त्रालय,  
अजमेर ।
60. सत्यार्थप्रकाश – स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय,  
अजमेर ।